सप्तम प्रकरण

कला पक्ष

भाषा : ठाकुर की भाषा व्रजभाषा है। बुन्देलखण्डी शब्द भी जहां-जहां पर प्रयुक्त हुए हैं। बुन्देलखण्डी लोकोक्तियां भी प्रयुक्त हैं। 'घूर देना' बुन्देलखण्डी लोकोक्ति है -- गरजो बरसो तुम्हें घूर दई है[1]। घेरु (बदनामी की चर्चा), लानें (लिए) जैसे बुन्देलखण्डी शब्द भी प्रयुक्त हैं --

(१) घेरु भयो सिगरी जारी हठि वैर भयो हमरी बखरी में[2]।

(२) घर बाहर घेरु उठो री मटू मन मोहन लाल्न के चहते[3]।

(३) सांच घटो बढ़ो झूठो जहान में लोभ कें लानें जहां तहां दौर है[4]।

मटू (वधू) और वीर (भाई) इन दो व्रजी सम्बोधनों का भी अच्छा प्रयोग है। सहूर, हिम्मत, दिल रुस आदि फारसी शब्दों का प्रयोग खुलकर किया गया है। स्वाति (नक्षत्र) पीत (पीला), प्रीति, रीति, श्याम व्रजराज आदि तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है। गरव (गर्व) औगुन (अवगुण), परवीन (प्रवीण), रतन (रत्न), जोवन (यौवन), मगन (मग्न), निरसंक (निःशंक), सनेह (स्नेह) आदि तद्भव शब्दों का प्रयोग हुआ है। लेकिन भूषण आदि कवियों की तरह शब्दों के रूप को बिगाड़ने का काम इस कवि ने नहीं किया है। शब्द बिगाड़ने का मतलब होता है शब्दों को वह रूप देना जिससे द्वारा शब्दों के मूल रूप का भी पता मुश्किल से चले। रीति मुक्त कवियों की भाषा पर विचार करते हुए पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

---

१. ठाकुर ठसक, छंद सं० १५७

२. वही, छंद सं० १६०

३. वही, छंद सं० ४६

४. वही; छंद सं० १४८

लिखते हैं -- "यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इन रीतिमुक्त कवियों ने न शब्दों का अंगभंग ही किया है और न प्रयोगों को बिगाड़ा ही है"[१]।

जहां कवि की अभिव्यक्ति में सच्चाई होती है वहां भाषा भी सहज एवं स्वाभाविक बन जाती है। ये रीतिमुक्त कवि जिस भाव का जिस रूप में अनुभव करते थे उसी रूप में लिख देते थे और कविता हो जाती थी। खोज खोजकर अनुप्रास लाना, श्लेष लाना, यमक और परिसंख्या की योजना करना -- इनकी प्रवृत्ति के विरुद्ध था। अलंकारों के प्रयास मूलक प्रयोग में इनका विश्वास नहीं था। यदि हम थोड़े शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि भाषा की सहजता सच्चे कलाकार का एक लक्षण है। ठाकुर की भाषा सहज है। उनकी भाषा पर विचार करते हुए डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने लिखा है -- "भाषा इनकी सुव्यवस्थित, सर्वसाधारण, मुहावरेदार और स्पष्ट है। शब्दाडम्बर और अनुप्रासादि सम्बन्धी काल कौशल का कृत्रिम रूप तथा अलंकार की अरोचक कारीगरी उसमें नहीं है। पदावली साफ सुथरी और सुसंगठित होती हुई व्यवस्थित शैली की है। लोकोक्तियों का सुन्दर, उपयुक्त तथा भावोचित उपयोग उनकी स्वाभाविकता को और भी बढ़ा देता है। काव्य शास्त्र की रूढ़ियों या रीतियों ही का अन्धे की भांति पालन करना इनकी दृष्टि में कवि कर्म न था"[२]।

हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठाकुर की भाषा पर विचार करते हुए लिखा है -- "इनकी रचना में भाषा का स्वच्छ सहज प्रवाह देखते ही बनता है। ऐसा जान पड़ता है कि यहां आकर ब्रजभाषा अपने पूरे चढ़ान पर आ गई है। पद्माकर तो कभी-कभी ताल तुक के टोटके के चक्कर में पड़ जाते हैं पर ठाकुर ने जो मजमून शुरू किया है तो बस अन्त तक स्वच्छ सहज प्रवाह की प्रसन्न धारा बह जाती है"[३]। उदाहरण भी द्विवेदी जी ने दिया है --

---

१. बिहारी, पृ० ४८
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५२७
३. हिन्दी साहित्य, पृ० ३४६

अब का समुझावति को समुझै बदनामी के बीज बो चुकी री ।
इतनो हूं विचार करो तो सखी यह लाज की साज तो धो चुकी री।।
कवि ठाकुर काम नया सबको करि प्रीति पतिव्रत खो चुकी री ।
नेकी बदी जो लिखी हुती भाल में होनी हुती सु तो होय चुकी री[१]।।

भाषा में चित्रात्मकता : काव्य के भीतर अन्य ललित कलाओं का भी समावेश है। इसका सम्बन्ध एक ओर संगीत से है तो दूसरी ओर चित्रकला से । कविता में छन्द की योजना लय सृष्टि के लिए की जाती है । यही 'लय' संगीत का प्राण है । अब प्रश्न उठता है कि काव्य में चित्रकला का समावेश किस रूप में होता है ? काव्य भाषा यदि एक ओर संगीत की सृष्टि करती है तो दूसरी ओर चित्र विधान भी । एक बार महाकवि निराला की एक कविता -- राम की शक्ति पूजा -- का निम्नलिखित अंश पढ़ा जा रहा था --

रवि अस्त हुआ, ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम और रावण का अपराजेय समर
आज का तीक्ष्ण शर-विधृत-क्षिप्रकर-वेग प्रखर,
शत शेल सम्वरण शील नील नभ गर्जित स्वर
प्रति फल पतिवर्तित प्रकृति व्यूह कौशल समूह
राक्षस विरुद्ध प्रत्यूह क्रुद्ध कपि विषम हूह
विच्छुरित वह्नि राजीव नयन हत लक्ष्यबाण
लोहित लोचन रावण मद मोचन महीयान
राघव लाघव , रावण वारण गत युग्म प्रहर[२] ।।

कविता का यह अंश सुनकर मेरे मुख से निकल पड़ा -- मैं तो राम-रावण की लड़ाई देख रहा हूं । पास में बैठे हुए सज्जन बोल पड़े -- विज्ञान की कृपा से ऐसे ऐसे यन्त्र बन चुके हैं जिनसे आप दूर के दृश्यों को सरलता से देख सकते हैं । लेकिन मेरा संकेत भाषा की चित्रात्मकता की ओर था न कि विज्ञान के यन्त्र की ओर । काव्य की

---

१. ठाकुर ठसक, छंद सं० ६०
२. अपरा (राम की शक्ति पूजा), महाप्राण निराला

भाषा में मूर्ति विधान की शक्ति होती है । जब हम सूर का यह छन्द पढ़ते हैं उस समय बड़ी बड़ी आंख एवं तिलकित भाल वाली एक बालिका का रूप नजर के सामने नाचने लगता है --

खेलत हरि निकसे ब्रज खोरी,
गए स्याम रवितनया के तट , अंग लसत चंदन की खोरी।
औचक ही देखी तह राधा , नैन विसाल भाल दिए रोरी[१] ।।

किसी दृश्य का वर्णन सुनना और बात है उसको देखना और बात । कवि दिखाने का ही प्रयास करता है । देखने का प्रभाव अमिट होता है । उस चित्र के साथ पाठक के हृदय का तादात्म्य हो जाता है। ठाकुर की काव्यभाषा की चित्रात्मकता के कुछ उदाहरण देखिये --

(१) डाम पर मोर देखु मोर पर कोर देखु
कोर पर मोर देखु गुंजत सुहावने[२] ।
(२) रंग भरी रसमाती गुवालि गोपालहिं लै गिरी केसर कीच में[३] ।
(३) कुंज के भौन में पुंज प्रभात किशोर किशोरी बराबर ठाढ़े[४] ।
(४) छोटी नथुनी बड़े मुतियान बड़ी अंखियान बड़ी सुघरै री[५] ।
(५) कैसो पीत पर वारो छोर छहरंत जात
उलटि मुरलि खोंसे अंग अलसाने सों ।
लटपटनि पेंचन की बांधे अटपटी पाग
नटखटी नंद को निकाइन निकानो सो।।
ठाकुर कहत हित हाँस अभिलाषन सों
चित को विसारि चित चारु चकवानो सो। क्रमश:- -

---

१. भ्रमर गीत सार की भूमिका, पृ० ६
२. ठाकुर ठसक, छंद सं० ६३
३. वही, छंद सं० ६४
४. वही, छंद सं० ३४
५. वही, छंद सं० ३३

लेखु धन्य भाग सोभा सुखन विसेष देख
गोरी को गुविंद फिरे देखत दिवानो सो[१] ।।

<u>भाषा में झंकृति :</u> काव्य भाषा में शब्दों के अनुरणन से एक ध्वनि की सृष्टि की जाती है जिसे अंग्रेजी में आनोमाटोपाइया अलंकार कहते हैं। वसन्त में पपीहा बोलते हैं -- यह सुनना उतनी मर्मस्पर्शी नहीं है जितनी कि भाषा में पी कहां ? पी कहां ? की ध्वनि। घन गर्जन का वर्णन करते समय भाषा में ऐसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जो घन गर्जन कर सकें। देखिये --

घन घमण्ड गरजत नभ घोरा।
प्रिया हीन डरपत मन मोरा[२] ।।

तलवारों की खनखनाहट, घोड़ों की हिनहिनाहट बतलाने के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग काव्य भाषा में होना चाहिये जो खनखनाहट एवं हिनहिनाहट की ध्वनियों की सृष्टि कर सकें। यह झंकृति काव्य भाषा का एक शुभ लक्षण है। देखिये --

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि[३] ।।

तुलसी की यह चौपाई पढ़कर सहृदय पाठक सीता के नूपुर की ध्वनि युग-युग तक सुनते रहेंगे। ठाकुर के निम्नलिखित छन्द में यह झंकृति देखिये --

दौरि दौरि दमकि दमकि दुरि दामिनि यों
दुन्द देति दसहूं दिसान दरसतु है।
घूमि घूमि घहरि घहरि घन घहरात
घेरि घेरि घोर घनो सोर सरसतु है ।।
ठाकुर कहतपिक पीकि पीकि पी को रटै
प्यारो परदेस पापी प्रान तरसतु है।
झूमि झूमि झुकि झुकि झमकि झमकि आली
रिमझिम झिमिक असाढ़ बरसतु है[४] ।।

---

१. ठाकुर ठसक, छंद सं० ६२
२. रामचरित मानस --किष्किन्धा काण्ड
३. मानस -- अयोध्या काण्ड
४. ठाकुर ठसक, छंद सं० १२२

लोकोक्ति विधान : लोकोक्ति विधान काव्य भाषा की एक विशेषता है। भाषा को स्वाभाविक बनाने के लिए लोकोक्तियों का प्रयोग बहुत आवश्यक है। ये भाषा की संपत्ति हैं जो हमें लोक जीवन की परम्परा से प्राप्त होती हैं। प्रत्येक भारतीय ललना का मस्तिष्क लोकोक्तियों का कोष होता है। कृत्रिम भाषा के प्रेमियों की बात तो नहीं कह सकते, लेकिन जो भाषा के सहज रूप के प्रयोक्ता हैं उनकी भाषा में ये लोकोक्तियां बिना बुलाए ही आ जाती हैं। इन लोकोक्तियों की व्यंजना शक्ति अद्भुत होती है। यद्यपि कुछ लोकोक्तियां ऐसी भी होती हैं जिनका साधारणीकरण नहीं हो पाता है। उनका प्रयोग एक स्थानीय होता है। दूसरी भाषा की लोकोक्तियों का भाषान्तर कर उनका प्रयोग करने से भी यह गड़बड़ी हो जाती है। लेकिन इन सब के बाद भी लोकोक्तियों का महत्व है। इनके प्रयोग से भाषा में एक ऐसी सादगी आ जाती है जिसके कारण सब लोग उस काव्यांश को अपना लेते हैं। ये ऐसे गागर हैं जिसमें भावों या विचारों का सागर समाहित हो जाता है। ये भी एक प्रकार के अलंकार ही हैं।

ठाकुर की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है उनका लोकोक्ति विधान। उनकी छोटी सी रचना में जितनी लोकोक्तियां प्राप्त हैं उसी अनुपात में अन्य कवि की भाषा में पाना बड़ा मुश्किल है। आचार्य शुक्ल ने ठाकुर की इस विशेषता पर विचार करते हुए लिखा है -- "ब्रजभाषा की शृंगारी कविताएं प्रायः स्त्री पात्रों के ही मुख की वाणी होती हैं। अतः स्थान स्थान पर लोकोक्तियों का जो मनोहर विधान इस कवि ने किया है उससे उक्तियों में और भी स्वाभाविकता आ गई है। यह एक अद्भुत बात है कि स्त्रियां बात बात में कहावतें कहा करती हैं। उनके हृदय के भावों की भरपूर व्यंजना के लिए ये कहावतें मानों एक संचित वाङ्मय हैं। लोकोक्तियों का जैसा मधुर उपयोग ठाकुर ने किया है वैसा और किसी कवि ने नहीं। इन कहावतों में से कुछ तो सर्वत्र प्रचलित हैं और कुछ खास बुन्देलखण्ड की हैं"[1]। रीतिकाल के मर्मज्ञ विद्वान प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ठाकुर की इस विशेषता की ओर संकेत किया है -- "लोकोक्ति विधान की विशेषता रीतियुक्त स्वच्छन्द ठाकुर को ही

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३८३

नाम के अन्य दो कवियों से पृथक् करती है[१]। स्व० लाला भगवान दीन ने भी ठाकुर की काव्य भाषा की इसी विशेषता को पकड़ कर इस नाम के अन्य कवियों से भिन्नता प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। जैपुरी ठाकुर की कविता में कोई न कोई लोकोक्ति अवश्य पाई जाती है। ठाकुर ठसक के 'लोकोक्ति लक्षण काव्य' शीर्षक के भीतर वे ही छन्द दिये गये हैं जिनमें कोई न कोई लोकोक्ति है। मुख्य लोकोक्तियां देखिये[१] --

(१) या जग में फिर जीवो कहा जब आंगुरी लोग उठावन लागे।
(२) ऊधो जू दोष तुम्हें न उन्हें हम लीन्हीं हैं आपने हाथ में बीछी।
(३) जो विष खाय तो प्राण तजै गुण खाय तो काहे न कान छेदावै।
(४) ऊधो जू दोष तुम्हें न उन्हें हम आपु ही पांद में पाथर पारे।
(५) खाई कछू बगराई कछू हरि गोपी गुलाब की गाजर कीन्ही।
(६) राजा ह्वै के तजै न्याउ ऊंगी ह्वै कै करै घाउ
बारी खेत खाय तो उपाय कहा कीजिये।
(७) अब ह्वै हैं, न ह्वै हैं यहो गयो बहती नदी पांव पखार ले री।
(८) हो अब तो घनघोर घटा गरजो बरसो तुम्हें घूर कूर है।
(९) बाने वटके सुन र री भटू निज सौत के मायके जयत है।
(१०) मीर बड़े बड़े जात वह तह डोलिर पार लगावत को है।
(११) मूसर चोट की भीति कहा बलि के जब मूंड़ दियो ओखरी में।
(१२) आनन ऊंच उठाय ज्यों रोवत संख सुने शठ स्वान अभागी।
(१३) हमें को गनै कागो प्रयोजन है बुनिवे में न बीन बजाइवे में।
(१४) कोऊ कहूं लखि लेय जो याहि तो होय खला मोहि नील को टीको।
(१५) तुम आपनी ओर विचार करो इपतो बनकै बिगरी बिगरी।
(१६) अधिरात भए हरि आए नहीं हमै ऊमर को गहिया करिगे।
(१७) ह्वै हैं नई गुरगा जेहि गांव भटू तेहि गांव का भोर न ह्वै हैं।
(१८) देखति हौं ब्रज को लुगायन भयो घों कहा
खेत की कहे ते खरियान की समझती।

---

१. लोकोक्ति लक्षण काव्य (ठाकुर ठसक, छंद सं० १४६ से छंद सं० १८३ तक)

(१९) आंधरे साहब के घर में दमरी को हिसाब हजारा को जो लों ।
(२०) बिन आपने पाये बिवाई गए कोऊ पीर पराई न जानत है ।
(२१) माया मिली नहिं राम मिले दुविधा में गए सजनी मुनु दोऊ।
(२२) चलु दूर भट्ट हों वृथा मटकी लगें दूर के ढाल सुहावने री ।
(२३) दूध की माखी उजागर बीर मुहाई में आंखिन देखत खाई ।
(२४) हम जानती तो हरि मीत ह्वै हैं न कहे हरि चैतुवा मीत कहे ।
(२५) थोरिहिं बात में धोखो मिटो बड़ियाई भई कल्ई कढ़ि आई ।
(२६) तुम तो अब राम के राज करो हम तो घरे बासन जानती ती ।
(२७) मन मोहन को हिलिबो मिलिबो दिन चारिक चैत गो हो गयो है।
(२८) जग एकन को भटे बाहर बीर सो एकन को पग दीजतु है ।
(२९) ऐसे ही सोच के सोच परें अब ऊपर फोरि को जीव उड़ावै ।
(३०) अब ऊधो सुनो यह प्रीति की रीति जु कांछिए काछ तुई नचिए ।

<u>शब्दालंकारों का प्रयोग :</u> शब्दालंकारों का प्रयोग भाषा के लिए शुभ लक्षण है । किन्तु जब कवि इन्हीं के पीछे पड़ जाता है तब ये अशुभ हो जाते हैं । शब्दालंकारों में सबसे सुन्दर अलंकार है -- अनुप्रास । काव्य भाषा में समान वर्णों की आवृत्ति से श्रवणेन्द्रिय को सुख मिलता है । कुछ उदाहरण देखिये --

(१) वृत्त्यनुप्रास --

(क) झूम के झूला में झुलावती जसोदा माय
चूम चूम बदन बलैया लेत प्यारे की ।
झीनी गोहे झंगुली औ झालर झंडूली लसै
अंखिया रसीली नीकी कंज सी दुलारे की [1] ।।

(ख) घर ही घर घेरु करें घर हाइनै नाव धरें सब गांवरी री [2] ।

(ग) मन मेरो मतंग भयो मनमत्त सु माया समुद्र में आनि धंसी है [3] ।

---

१. ठाकुर ठसक, छंद सं० ३
२. वही, छंद सं० ४२
३. वही , छंद सं० १५

(घ) होरी की हाँस हमे ना कछू हम जानती हैं तुम रार करैया[१]।

(ङ०) घूंघर की घुघुकी में घमारि मैं हौं घघिहौं घरि लैहौं गोपालहिं[२]।

(२) छेकानुप्रास --

प्रणव प्रसिद्ध आदि मंगल महोदधि सो
जोह उर ध्यावै तासु वेगु रखवारो है[३]।

(३) श्लेष - अब गांवरे नांव रे कोई धरौ हम सांवरे रंग रंगी सो रंगी[४]।

(४) वीप्सा -- राधे राधे टेर टेर पीरो पट फेर फेर
हेर हेर हरि डोले गेर गेर वन में[५]।

(५) यमक -- मेंहदी लपेटे लाल लाल बम कीन्हें निज
छीगुनी अनोटा नग जटित संवारे हैं[६]।

लाक्षणिक प्रयोग : आचार्य शुक्ल ने लिखा है -- "अगोचर बातों या भावनाओं का भी जहां तक हो सकता है कविता स्थूलगोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्तिविधान के लिए वह भाषा की लक्षणा शक्ति से काम लेती है[७]। ठाकुर के काव्य में कुछ ऐसे प्रयोग देखिये --

(१) कुल कानि गई भगि वाही घरी वृजराज के प्रेम पगी सो पगी[८]।

(२) अब का समुझावति को समुझै बदनामी के बीजन बो चुकी री[९]।

---

१. ठाकुर ठसक, छंद सं० ६६

२. वही, छंद सं० ६६

३. वही, छंद सं० १

४. वही, छंद सं० ४७

५. वही, छंद सं० ११२

६. वही, छंद सं० ४

७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७५

८. ठाकुर ठसक, छंद सं० ४३

९. वही, छंद सं० ६०

(३) इतनोई विचार करौ तौ मनी [illegible] की [illegible] सुनी [illegible][1]।

भाषा की रसानुकूलता : ओज, प्रसाद और माधुर्य -- ये तीन काव्य भाषा के गुण माने गये हैं। ओजगुण प्रायः वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में अधिक रहता है। वर्ग के प्रथम और तृतीय अक्षरों से दूसरी वर्ग के अंतिम अक्षर ऊपर या नीचे या दोनों जगह से संयुक्त हों और रेफ भी इनमें शामिल हो, ट ठ ड ढ अक्षर भी होवें, शकार, षकार और लंबे लंबे समासों से युक्त उद्धत रचना शैली हो तो वह ओजोगुण की प्रकाशिका है। भाषा भावों का वाहन है। क्रोधादि उग्र भावों के वाहन परुष वर्ण ही हो सकते हैं। इसीलिए वीर, रौद्र, वीभत्स रसों में ओज गुण आवश्यक है। लेकिन इसी ओज गुण का यदि शृंगार रस में प्रवेश हो तो शृंगार के कोमल भाव चकनाचूर हो जाते हैं। घोड़े की सवारी सिपाही करता है। यदि वही सवारी किसी रमणी को दे दी जाय तो परिणाम अच्छा नहीं होगा। ठाकुर की कविता में वीर, वीभत्स एवं रौद्र रसों का अभाव है। इसलिए इस गुण के प्रस्फुटन के लिए कम अवसर मिले हैं। एकाध स्थलों पर ओज गुण आ गया है। देखिए --

सेवक सिपाही हम उन रजपूतन के
दान जुद्ध जुरिबे में नेकु जे न मुरके।
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को
कवि उनही के जे सनेही साँचे उर के[2]।।

जिस प्रकार स्वच्छ पानी के भीतर की वस्तु स्वयं दिखलाई देती है उसी प्रकार कवि की प्रतिपाद्य अर्थ भाषा के जिस गुण के द्वारा बिना कठिनाई के ही जाना जा सके वही प्रसाद गुण है --

यस्मादन्तः स्थितः सर्वः स्वयमर्थो वभासते[3]।
सलिलस्येव सूक्तस्य स प्रसाद इति स्मृतः ।।

---

१. ठाकुर ठसक, छंद सं० ६०

२. वही, छंद सं० १४

३. चन्द्रालोक, मयूख, ४, श्लोक २

यह प्रसाद गुण सब रसों में रहता है। यह गुण काव्य को काठिन्य दोष से बचाता है। उदाहरण देखिये --

तान लगे तरवारि लगे बरछी हु लगे लगे तीर अन्यारो।
वज्र को घाउ लगे ते जियें औ जियें विष खाउ पिए मतवारो।।
ठाकुर जीवत सर्प डसो अरु जीवत है नरसिंह विदारो।
काल ग्रसे पै जियें जु जियें न जियें इक नैन कटाक्ष को मारो[1]।।

साहित्यदर्पण में चित्त को पिघलाने वाले आह्लाद को माधुर्य कहा गया है। यह माधुर्य क्रम से संयोग शृंगार, विप्रलंभ शृंगार, करुण रस एवं शान्त रस में अधिक रहता है। जहां वर्ग के प्रथम और पंचम अक्षर का संयोग हो। ट ठ ड ढ -- ये चार अक्षर न हों। समास बिलकुल न हों और हों भी तो छोटे-छोटे समास -- वह रचना माधुर्य गुण प्रकाशिका है। उदाहरण देखिए --

सपने हौं फुलवाई गई हरि अंक भरी भुज कंठन मेली।
हौं सकुची कोउ सुन्दरि देखत लै निज बांह सों बांह पकेली।।
ठाकुर भोर भए गए नींद पैं देखहुं तो घर मांझ अकेली।
आंख खुली तब पास न सांवरो बाग न बावरो कुंज न बेली[2]।।

शब्दों का साभिप्राय प्रयोग : जिस समय लक्ष्मण सीता को जंगल में छोड़कर लौटने लगे उस समय लक्ष्मण से सीता ने कहा --

"वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा
बह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवाद श्रवणादहासी:
श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य[3]।।"

इस श्लोक में 'राजा' शब्द का सौष्ठव देखिये। सीता कह रही हैं -- हे लक्ष्मण! जाकर उस अयोध्या के राजा से कह देना। यहां 'राजा' शब्द बड़ा मार्मिक है।

---

१. ठाकुर ठसक, छंद सं० २८
२. वही; छंद सं० ८७
३. रघुवंश, सर्ग १४, श्लोक ६१

सीता की सम्पूर्ण वेदना इस एक शब्द में सिमट गई है । उस राम से सीता ने नहीं कहा जिस राम ने जनक के यहां सीता का हाथ पकड़ा था । उस राम से नहीं कहा जो वन में सीता के गायब हो जाने पर पागल हो गया था और लता तरु पाती से सीता का पता पूछता था । यह संदेश उस राम के लिए है जो अयोध्या का राजा है ।जिसने कोर्ट का अमुक धारा के भीतर सीता को गिरफ्तार किया और वन भेज दिया ।

इस प्रसंग को उद्धृत करने का आशय यह है कि शब्द कामधेनु है । लेकिन काम-धेनु भी उचित सेवा चाहती है । एक शब्द के पर्यायवाची अनेक शब्द मिल जाते हैं । लेकिन एक का स्थान दूसरा ले सके -- यह निश्चित नहीं है । 'कामिनी' शब्द का अर्थ स्त्री होता है । किन्तु यदि किसी वृद्धा के लिए इस शब्द का प्रयोग करें तो नहीं अच्छा लगेगा । अतः शब्दों का अर्थ समझकर उनका प्रयोग होना चाहिए ।देखिए -

(१) बीतो वसन्त मिल्यो नहिं कंत सो आनद में तिय को लौं भरेगी ।
जेठहु ज्वालन सों जरिके तन कामिनि काम सों कैसे लरेगी[1] ।।

यहां पर 'कामिनि' शब्द का साभिप्राय प्रयोग हुआ है । काम से लड़ने का काम कामरिपु का है कामिनि का नहीं ।

(२) वा बरसै जल धारन सों रसधारन याहु सतीत करी है ।
घूमै रहै घुमड़ो वा मढ़ो यह लै मुरली अधरान धरी है ।।
ठाकुर वाहि मिली चपला अबला मिली याहि चरित्र भरी है।
देखत जोई कहै घनि सों, घन सो घनस्याम सों होड़ परी है[2] ।।

यदि घनस्याम का समानार्थक शब्द 'नंदलाल' का प्रयोग घनस्याम की जगह पर कर दिया है तो सब गुड़ गोबर हो जायगा । शब्दों के इसी साभिप्राय प्रयोग पर ही तो बिहारी की नायिका भी जोर देती है --

वामा भामा कामिनी कहि बोलौं प्राणेश[3] ।
प्यारी कहत लजात नहिं पावस चलत विदेश ।।

---

१. ठाकुर ठसक, छंद सं० १०८

२. वही, छंद सं० ११३

३. 'बिहारी रत्नाकर'

(३) कहीं - कहीं शब्दों के प्रयोग में दोष भी मिलता है । देखिए --

काल ग्रसे पै जिये जु जिये न जिये इक नैन कटाक्ष को मारो[१]।

'नैनं कटाक्ष' में अधिक पदत्व का दोष है।

छंद विधान : काव्य में छंद विधान आज के साहित्य की महत्त्वपूर्ण समस्या है । आज के कवि छन्द के नियमों का नियंत्रण नहीं स्वीकार करते । कविता में संगीत तत्व लाने के लिए छंद की योजना की जाती है । छंद से कविता की आयु बढ़ती है । जिसे हम छंदयुक्त कविता कहते हैं उसमें भी एक लय है.। यही लय छंद का धर्म है । प्रवाहशील गद्य में भी एक प्रकार का छन्दोधर्म विद्यमान रहता है ।उस धर्म के रहने से ही गद्य गद्यकाव्य होता है । अत: यह समझना भूल है कि छन्दोधर्म अर्थात् प्रवाह और गति के बिना भी काव्यत्व संभव है[२]। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है -- कविता से संगीत और चित्रकला का भी प्रवेश है । रूपविधान के लिए चित्रकला का अनुसरण है तो नादविधान के लिये संगीत का। छंद वास्तव में बंधी लम्बाई के भीतर भिन्न-भिन्न स्वरों का योग है जो निर्दिष्ट लंबाई का होता है । लय स्वर के चढ़ाव उतार के छोटे-छोटे ढांचे ही हैं जो किसी छंद के चरण के भीतर न्यस्त रहते हैं । लय भी एक प्रकार का बंधन है । जबतक नाद सौन्दर्य का कुछ भी योग हम कविता में स्वीकार करेंगे तबतक बंधन कुछ न कुछ रहेगा ही। नाद सौन्दर्य की जितनी मात्रा आवश्यक समझी जाएगी उसी के हिसाब से यह प्रतिबंध रहेगा[३]।

प्राचीन काव्यों में छंद का बहुत महत्व है । कवित्त,सवैया,दोहा,सोरठा और छप्पय रीतिकाल के प्रमुख छंद हैं । ठाकुर ने सवैया और कवित्त इन्हीं दो छंदों का प्रयोग किया है । सवैए का प्रयोग ज्यादा है कवित्त का कम ।सवैया छंद पर विचार करते हुए पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है -- यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि सवैया छंद में नाद तत्व की योजना हिन्दी के अन्य छंदों की अपेक्षा सबसे अधिक है[४]।

---

१. ठाकुरठसक, छंद सं० २८
२. साहित्य का साथी, पृ० ५८
३. चिन्तामणि, भाग १
४. बिहारी, पृ० ५६

पंडित जी का कहना है कि -- 'फारसी की बहरों और उर्दू के शेरों में भी नाद सौन्दर्य वैसा नहीं जैसा सवैए में होता है'[१]। ठाकुर की रससाधना की सिद्धि में इस सवैया नामक छंद का भी महत्वपूर्ण योग है।

---o---

---

१. बिहारी, पृ० ५६